जनजातीय संस्कृति: भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग

शोधार्थी:- यशवंत काछी

शोध केन्द्र:- तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर

सारांश: भारतीय संस्कृति एक बहुरंगी और वैविध्यपूर्ण संस्कृति है। यह संस्कृतियों के विभिन्न रंगों से नियोजित एक आकर्षक एवं सुंदर छवि का निर्माण करती है। जिसमें नागर, ग्रामीण और जनजातीय परंपराओं के बेलबूटे लगे हुए हैं। भारतीय संस्कृति की विविध संस्कृतियों में जनजातीय संस्कृति की विशिष्ट भूमिका है, जो संस्कृति की संरचनाओं को मजबूती प्रदान करती है। जनजातियों का जनजीवन, जीवन-मूल्य और रीति-रिवाज मिलकर एक सुदृढ़ संस्कृति का विनिर्माण करते हैं। जनजातीय संस्कृति भारत की अन्य संस्कृतियों से बहुत साम्य रखती है। उसके देवी-देवता, प्राणीदेवता, लोक आस्थाएँ बदले हुए स्वरूप में लगभग सभी जनजातीय समूहों में पाई जाती है। जनजाति जन प्रकृति की अनंत उपासक हैं, जिन्होंने प्रकृति को अपने अंदर आत्मसात कर लिया है। प्रकृति ही जिनकी जीवनशैली का केंद्र है। जनजातीयों ने उपनिवेशिकता से अपने आप को बचाकर अपनी संस्कृति की सुंदरता और उसके प्रवाह को अक्षुण्ण रखा है। भारतीय और जनजातीय संस्कृति परस्पर सहयोगी संस्कृतियाँ हैं तथा जनजातीय संस्कृति, भारतीय संस्कृति का अनुपम, अद्वितीय और अभिन्न हिस्सा।

बीजशब्द: जनजाति, संस्कृति, शैलाश्रय, प्रकृति, घोटुल, गुदना, प्रतीक।

भारत आदिकाल से ही अपनी संस्कृति और ज्ञान के लिए विश्व में जाना जाता रहा है। किसी भी देश और मानव समाज की सबसे अमूल्य निधि होती है, उसकी संस्कृति। संस्कृति सामाजिक संरचना का दृढ़ आधार है। जिस प्रकार किसी राष्ट्र, क्षेत्र, समाज और समुदाय की अपनी भाषा, वेशभूषा, खान-पान एवं नियम कानून होते हैं, उसी प्रकार इन सबकी अपनी एक विशेष संस्कृति भी होती है। जो कि उनकी जीवंत का प्रमाण होती है विश्व के अलग-अलग भागों में भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। संस्कृति वह सदानीरा पुण्यसलिला है, जिसका

प्रवाह निरंतर अबाध गति से चलता रहता है। हमारे भारतवर्ष में भी इसकी अनेक धाराएँ अविरल रूप से प्रवाहित हो भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो रही हैं। भारतीय संस्कृति के दो विभाग माने जाते हैं:- वैदिक संस्कृति और लोक संस्कृति। यहाँ की कोई भी लौकिक संस्कृति, वैदिक संस्कृति से विलग नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करने में हमें तनिक भी संदेह नहीं होना चाहिए। हालाँकि इस बात को असत्य सिद्ध करने के लिए कई देशी-विदेशी विद्वानों के द्वारा सायास प्रयत्न किए गए हैं, फिर भी वह इस सत्यता को झुठला नहीं सकते। भारतीय संस्कृति यहाँ के भू-भाग पर निवासरत सभी मनुष्यों की संपत्ति है। जिसमें लोक जीवन से संबंधित ग्रामीण, शहरी और वनों में रहने वाले जनजाति समुदाय सभी लोग सम्मिलित हैं। जिनकी अपनी भी एक लोक संस्कृति होती है। जिनके अपने लोकगीत, लोककथाएँ, लोकोक्तियाँ, लोकदेवता, तीज-त्यौहार, परंपराएँ, टोटम, शिल्प, आस्था तथा विश्वास होते हैं, जिनसे इनकी पहचान निर्धारित होती है।

जब हम भारत के संदर्भ में जनजातियों की बात करते हैं तो पाते हैं कि इस देश के लगभग प्रत्येक राज्य में जनजातियाँ निवासरत हैं। ये आधुनिकता की चमक-दमक से दूर अपनी परंपराओं की दुनिया में आर्थिक विपन्नताओं के बावजूद भी खुशहाली से अपना जीवन जी रही हैं। भारत में सबसे अधिक जनजाति मध्यप्रदेश में पाई जाती है। यहाँ के जनजाति समूहों में गोंड, भील, बैगा, कोरकू, भारिया, कोल, सहरिया, उरांव, हल्बा, पारधी, पनिका इत्यादि प्रमुख हैं। जनजाति को परिभाषित करते हुए डॉ. मजूमदार लिखते हैं कि "जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह जिनका एक सामान्य नाम है, जिनके सदस्य निश्चित भू-भाग पर निवास करते है तथा विवाह व्यवसाय के विषय में कुछ विषेधाज्ञाओं का पालन करते हैं, जिन्होंने एक आदान- प्रदान संबंधी तथा पारस्परिक कर्त्तव्य विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है।"[1]

भारतीय सभ्यताओं के विकास के समय से ही जनजातीय संस्कृति का उन्मेष हो चुका था। उनके रीति-रिवाज, रहन- सहन, खान-पान, शिकार की विधि और धार्मिक मान्यताओं से जुड़े हुए तथ्यों की जानकारी प्रागैतिहासिक काल के शैलचित्रों से प्राप्त होती है। जनजातियों के द्वारा बनाये गये शैलचित्रों में उनकी जीवन शैली को उकेरा गया है। इन लोगों को जो भी ज्ञान था उसे व्यक्त करने हेतु शैलचित्रों का आश्रय लिया जाता था। "जनजातीय सांस्कृतिक इतिहास के आदिसूत्र है, चित्रित शैलाश्रय। जनजातियों के प्राचीनतम उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों में से एक प्रमाण शैलाश्रयों में चित्रित पशु, पक्षियों, आखेट एवं जादू से संबंधित

वे चित्र है जिन्हें मानव ने सभ्यता के उषाकाल में चित्रित किया था।"[2] जनजातियों का प्रकृति के प्रति अद्‌भुत समर्पण होता है। वह प्रकृति को मातृतुल्य मानते हैं और स्वयं को उसकी संतान कहते हैं। प्रकृति के प्रति ऐसी उदारता एवं कृतज्ञता अन्य मानवीय समुदायों में कम ही देखने को मिलती है। जनजातीय जीवन का हर एक पहलू इससे ही संबंधित है। कुछ जनजाति के लोगों के गोत्र तथा उनके नाम भी प्रकृति के उपादानों पर आधारित होते हैं। जिनमें बैगा और कोरकू जनजाति के लोग अपने टोटमों में प्रकृति के जिस भी उपादान का प्रयोग करते हैं उसे अवध्य मानते हैं। कोरूकुओं के गोत्रों के संबंध में अशोक पाटिल लिखते हैं: "कोरकुओं के गोत्र मुख्यतः वनस्पति जगत से तथा अल्प मात्र में जीवजगत व भौतिक पदार्थों से संबंधित हैं। कोरकू प्रतीक पेड़ पौधे को काटते, जलाते अथवा किसी अन्य प्रकार से हानि नहीं पहुँचाते।"[3]

जनजातीय संस्कृति में नवयुवकों को अपनी परंपरा के धार्मिक और सामाजिक रहस्यों को समझने के लिए उनके पूर्वजों ने युवागृह या घोटुल नामक संस्था का उद्घाटन किया। जिसमें अविवाहित युवक और युवतियाँ जीवन के विभिन्न आयामों की शिक्षा के साथ परंपरागत रीति-रिवाज, अनुशासन, साफ-सफाई और श्रम का पाठ भी सीखते हैं। जिन्हें तथाकथित सभ्य समाज असभ्य और बर्बर समझाता है, घोटुल नामक संस्था के द्वारा हम उनके सुखद भविष्य निर्धारण की क्षमता का अनुमान लगा सकते हैं। घोटुल में युवाओं और युवतियों को एक-दूसरे की भावनाओं को समझने का अवसर प्राप्त होता है तथा जब कोई युवक-युवती एक-दूसरे को पसंद करने लगते हैं, तो उनका विवाह संबंध भी जोड़ दिया जाता है। भारत की बहुत सी जनजातियों में इस सामाजिक संस्था की संस्कृति विद्यमान है। अलग-अलग जनजाति में इसे अलग-अलग नाम से जाना जाता है। मुड़िया जनजाति में इसे 'घोटुल' के नाम से, भारिया में 'रंगबंग', उरांव में 'घुमकुरिया', भुइया में 'धंगर बस्सा', मुंडा में 'गिती ओरा' और नागाओं में 'मोरूंग' के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ. वेरियर एल्विन की दृष्टि में घोटुल जनजातियों के यौन संपर्क का केंद्र है। शायद एल्विन को एक सामाजिक संस्था और एक वेश्यालय में कोई अंतर समझ ना आया हो। यह जनजातियों की परंपरा पर एक महत्वहीन आक्षेप है। "घोटुल में न केवल काम संबंधी प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है अपितु आदिवासियों की सुरुचिपूर्ण कलात्मक प्रतिभा का भी विकास होता है।"[4]

विदेशी नृतत्वशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, प्रशासकों और पादरियों की दृष्टि में भारतीय विद्वानों तथा भारतीय संस्कृति के हिंदू धर्मावलंबियों को जनजातियों की

बिल्कुल भी फ़िक्र नहीं थी। भारतीयों ने तो जनजातियों का मात्र शोषण ही किया एवं उनकी संस्कृति को विघटित करने का कुत्सित प्रयास किया। जब यह सब दूर देश में बैठे पादरियों और ईसाई मिशनरियों के बिशपों ने देखा, तो उनसे नहीं रहा गया और उन्होंने भारत में आकर जनजाति संस्कृति को अपने हाथों से सँवारने की ठानी। अनेक विदेशियों जिनमें ड्यूक ऑफ आर्गिल, एम. ए. शेरिंग, सैम मैकफर्शन, डॉ. वेरियर एल्विन, हैमनडार्फ, रॉबर्टसन, शूवर्ट, डॉ. रिवर्स इत्यादि महानुभावों ने जनजातियों की सांस्कृतिक सुरक्षा के प्रति अपनी चिंता व्यक्त की। इस चिंता के चिंतन में कुछ भारतीय विद्वान भी शामिल थे, जो ब्रितानी हुकूमत के कारिंदे हुआ करते थे। जिनकी नज़र में जनजाति समूह की निर्वस्त्रता, नग्नता, विपन्नता, शराब की लत, नरबलि की प्रथा, पिशाचों की पूजा, असभ्यता और बर्बरता ही जनजातीय संस्कृति थी। उनके चश्मे से भारतीय या हिंदू संस्कृति जनजाति की संस्कृति से अलग थी। जहाँ भी उन्होंने यह देखा की जनजातियों की संस्कृति तथा भारतीय हिंदू संस्कृति में समानता है, उसे महत्वहीन घोषित कर दिया। यह सारा खेल हिंदू संस्कृति और जनजाति संस्कृति को अलगाने का रहा है। "विदेशी चिंतकों ने जनजातीय संस्कृति के संबंध में दो मुँही बातें कहीं और दो मुँही नीति अपनाई। एक ओर तो वे जनजातियों के भारतीय मूल के सांस्कृतिक तथ्यों को नकारते रहे, उसे बुरा कहते रहे और दूसरी ओर ईसाई धर्मान्तरण को जनजातियों के सामाजिक उन्नयन का आवश्यक सेतु मानते रहे।"[5] लेकिन यह मनीषी भूल बैठे कि भारतीय संस्कृति और जनजाति संस्कृति का संबंध अटूट है। जिनमें कुछ परिवर्तन या बदलाव अवश्य हैं परंतु यह है आपस में विपरीत नहीं एक-दूजे की पूरक है। रामायण महाभारत और लोक में प्रचलित कथाएँ इसका अन्यतम उदाहरण हैं। इन कथाओं में वर्णित जनजातीय नायक-नायिकाओं का संबंध भारतीय संस्कृति के अनेक समुदाय और राज्यों के नायक-नायिकाओं के समाज से रहा है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में मान्यता प्राप्त एवं पूजित देवी-देवताओं से भी जनजातियों का घनिष्ठ संबंध मिलता है। शिव, पार्वती, गणेश, राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान, विष्णु, लक्ष्मी, शक्ति और प्राणी देवताओं को जनजातियों ने भी उतने ही भक्ति भाव से पूजा है, जितना अन्य लोक समुदायों ने। इनके मिथक, टोटम, परंपराओं, शिल्प, तीज-त्यौहार और श्रृंगार में भी भारतीय संस्कृति का समावेश है। अनेक शुभ अवसरों पर बनाये जाने वाले लोकचित्र और शरीर पर उकेरे गए गुदने इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

गुदना जनजातीय समुदायों का प्रिय श्रृंगार है। गोंड, भील, बैगा, सहरिया, कोल ये सभी जनजातियाँ अपने शरीर पर गोदने गुदवाती है। इनमें से गोंड और बैगा तो संपूर्ण देह पर प्रकृति, धर्म एवं समाज संबंधी टोटम गुदवाते हैं। निरंजन महावर के अनुसार "सभी जातियों में जिनमें गोदना प्रचलित है, वे यह मानते हैं कि मृत्यु के उपरांत भौतिक जगत की सभी वस्तुएँ इसी लोक में छूट जाती है, किंतु गोदने आत्मा के साथ परलोक तक जाते हैं। इन गोदनों में निहित जादू एवं लोक विश्वास भी आत्मा के साथ जाकर न सिर्फ उनकी रक्षा करते हैं वरन् अलंकरणों के द्वारा उसके सौंदर्य में अभिवृद्धि भी करते है।"[6] ऐसी अनेकों मान्यताएँ हैं जो इस श्रृंगार चित्र से जुड़ी हुई हैं। कहा जाता है कि यदि कोई स्त्री गुदना नहीं गुदाती है, तो मृत्युपरांत उसके शरीर पर सब्बल से गुदने उकेरे जायेंगे। मरने के बाद सारी धन-संपदा यहीं धरी रह जाती है, साथ में एक सुतली भी नहीं जाती, लेकिन यह गुदने मरण के पश्चात् भी साथ जाते हैं। इसमें धार्मिक आस्था भी निहित होती है। यह आस्थाएँ भारतीय या हिंदू संस्कृति का ही रूप हैं। "राम और सीता का संबंध लगभग भारत की सभी जनजातियों से रहा है। चौदह वर्ष के वनवास के समय राम अनेक जनजातियों के सम्पर्क में आये थे और उन्होंने उनमें स्व का ज्ञान जगाकर जंगल जीवन में क्रांति ला दी थी। उनको संगठित कर उनके मनोबल को बहुत ऊँचा उठाया था। इस कार्य के कारण राम और सीता का जनजातियों में बड़ी प्रतिष्ठा हो गई और सम्मान स्वरूप आदिवासी स्त्रियों ने राम सीता की रसोई, रथ, सीताराम, लक्ष्मण को गुदनों के रूप में शरीर पर धारण कर लिये। अपने इष्ट के प्रति इससे बड़ी और क्या श्रद्धा हो सकती है?"[7] हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति के अनेक धार्मिक, प्राकृतिक एवं सामाजिक प्रतीकों का अंकन गुदनों के माध्यम से जनजातीय संस्कृति में दृष्टिगत है। ये चिन्ह मनुष्य के संस्कृति के प्रति लगाव का नमूना तथा उनकी जीवन-शैली का परिचायक होते हैं। प्रतीकों के संदर्भ में डॉ. श्यामसुंदर दुबे लिखते हैं कि "प्रतीक जब संस्कार के हिस्से बन जाते हैं- तब वे आस्था और विश्वास को धारणाओं में बंधकर अपना अस्तित्व बनाए रहते हैं।"[8]

किसी भी देश, समाज और समुदाय की संस्कृति तथा इतिहास का अध्ययन शगल का विषय नहीं गंभीर चिंतन का प्रश्न है। जिसे उसकी सत्यता एवं प्रमाणिकता के बिना नहीं समझा जा सकता। इसके लिए समाज में जाकर कुछ समय उसके बीच रह उसकी परम्पराओं, जीवन-शैली, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, भाषा इत्यादि का सूक्ष्मता से विवेचन करना होता है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण

संबंधित समुदाय और समाज की भाषा का अध्ययन होता है। जब तक हमें उसकी भाषा–बोली की समझ नहीं होगी, तब तक हम उसकी गहराई का आकलन नहीं कर सकते। विदेशी विद्वानों ने इसी अभाव में जनजातियों की संस्कृति को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत किया है। किसी भी प्रथा, नियम और रिवाज का आशय समझे बिना ही उसे अपनी दृष्टि के अनुरूप लिख दिया। साम्राज्यवादियों और मिशनरियों का भारत में आकर एक ही उद्देश्य रहा अपने धर्म, नियम–कानून तथा व्यवस्था का प्रसार। इसके लिए उन्होंने भाषा और संस्कृति जो किसी भी समाज का मेरुदंड होती हैं, पर कुठाराघात किया तथा उसके इतिहास को हीन सिद्ध करने में कोई भी कसर नहीं छोड़ी। इतिहास कल्पना और अनुमान की चीज न होकर तथ्य व सत्य पर आधारित ज्ञान है। प्रख्यात विद्वान निर्मल कुमार बोस अनुसार "औद्योगिक समाज की सभ्यताओं को समझना आसान है, उसकी तुलना में उसके पूर्व की सभ्यताओं को समझना अत्यन्त कठिन है। इन प्राक्–आधुनिक सभ्यताओं को समझना आराम कुर्सी पर बैठे–बैठे सोच में लगे विद्वानों के बस की बात नहीं। यह उनका काम है जो स्वतन्त्र चिन्तन के साथ–साथ फील्ड वर्क के अथक परिश्रम और धरातली लोगों के जीवन के निरन्तर निरीक्षण को अपने सम्पूर्ण जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हैं।"[9]

जनजातियों से संबंधित लोग भले ही कम पढ़े–लिखे या अशिक्षित होते हैं। वर्तमान में तो इस स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। जनजाति जनों की वास्तविक शिक्षा उनका अनुभवजन्य ज्ञान होता है। उनके द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा की शब्दावली भले ही परिनिष्ठित और व्याकरणसम्मत नहीं होती पर उसमें सरसता एवं माधुर्य का रस झरता है। उनके शिल्प भले ही अनगढ़ता को दर्शाते हैं परंतु उनके द्वारा की गई शिल्पकारी की बनक का सौंदर्य अद्‌भुत होता है। इन लोगों को गिनती भले ही कम आती है, लेकिन अपने आसपास की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान उन्हें होता है। यह कोई डॉक्टर, वैद्य, चिकित्सक एवं आयुर्वेदाचार्य नहीं हैं किन्तु जड़ी–बूटियों से बीमारियों के निदान का ज्ञान इनके पास है। वास्तव में जनजातीय संस्कृति भारत की अद्‌भुत, विस्मयकारी और रहस्यमयी संस्कृति है, फिर भी इसमें बड़ी सादगी तथा ज़िंदादिली मौजूद है।

निष्कर्ष: भारतीय संस्कृति में पाए जाने वाले तत्व जनजातीय संस्कृति में भी पाए जाते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रतीक, परंपरा, मान्यताएँ जनजातीय संस्कृति में भी मान्य हैं। इन दोनों संस्कृतियों को अलग सिद्ध करने की काफी कोशिशें होती रहीं परंतु दोनों संस्कृतियों एक-दूसरे से इस तरह गुत्थमगुत्था हैं कि इनको अलग करना दुष्कर कार्य है। लेकिन यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि हम हमारे देश की संस्कृति और जनजातीय संस्कृति से बड़े अनभिज्ञ रहे। हमें हमारी संस्कृति के बारे में ग़ैर मुल्क के लोग जो कुछ बताते रहे, हम उसे आँखें मूँदकर सच मान बैठे। जिस शिक्षा के माध्यम से हम संसार की जानकारी का दावा करते हैं, उसमें हमारी स्थानिकता का बोध नगण्य है। जिसमें हमारी संस्कृति और हमारे देश का ज्ञान अल्प है। इस कारण से हम अपने देश की संस्कृतियों में भिन्नता समझने लगे। भले ही भारतीय संस्कृतियों की सच्चाई को दबाया गया, पर संस्कृतियों को मौन नहीं किया जा सकता, यह करोड़ मुखों से बोलती हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भारतीय और जनजातीय संस्कृति में कोई भेद नहीं है। जनजातीय संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की भाँति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है।

संदर्भ सूची:

(1) मध्यप्रदेश की जनजातीय संस्कृति, डॉ. शिवकुमार तिवारी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2010, पृ. क्र. 13

(2) वही, पृ. क्र. 23

(3) वही, पृ. क्र. 169

(4) वही, पृ. क्र. 214

(5) वही, पृ. क्र. 9

(6) वही, पृ. क्र. 222

(7) वही, पृ. क्र. 226

(8) भारतीय प्रतीकों का लोक, श्यामसुंदर दुबे, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. क्र. 14

(9) आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, संपादक अनुज लुगुन, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2022, पृ. क्र. 19

शोधार्थी:- यशवंत काछी

शोध केन्द्र:- तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर

पता: मु.पो.- बिलगुवां, तहसील- तेंदूखेड़ा, जिला- नरसिंहपुर, मध्यप्रदेश, 487337